सबद
पीयर-रिव्यूड त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष- 1, अंक- 3 (जुलाई–सितंबर 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

समकालीन हिन्दी ग़ज़ल का सामाजिक-सन्दर्भ

जितेन्द्र
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, डी० ए० वी० पी० जी० कॉलेज, आज़मगढ़

शोध-सार

समकालीन हिंदी ग़ज़ल अपने पारंपरिक सौंदर्यबोध और भावनात्मक सीमाओं से आगे बढ़ते हुए आज के सामाजिक और राजनीतिक जीवन का सशक्त दस्तावेज़ बन चुकी है। ग़ज़ल का प्रारंभिक स्वरूप मुख्यतः प्रेम, शृंगार और निजी संवेदनाओं पर केंद्रित था, किंतु वर्तमान समय की परिस्थितियों ने इसे नए स्वर और दृष्टि प्रदान की है। अब यह विधा केवल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति न रहकर समाज की ज्वलंत समस्याओं को उद्घाटित करने का माध्यम बन गयी है। वर्तमान ग़ज़लकारों ने अपने लेखन के माध्यम से महँगाई, ग़रीबी, बेरोज़गारी, प्रवासन, भ्रष्टाचार, उपभोक्तावाद, जातिवाद, लैंगिक असमानता और स्त्री को वस्तु समझने जैसे गंभीर प्रश्नों को स्वर दिया है। इन मुद्दों की प्रस्तुति केवल वर्णनात्मक नहीं बल्कि आलोचनात्मक और प्रतिरोधी दृष्टि से की गयी है। लोकतांत्रिक मूल्यों की दृष्टि से भी ग़ज़ल ने समानता, स्वतंत्रता और न्याय जैसे आदर्शों को सशक्त रूप में उभारा है। इस प्रकार समकालीन हिंदी ग़ज़ल केवल साहित्यिक विधा न रहकर सामाजिक यथार्थ का आईना बन गयी है। यह जनमानस के दुख-दर्द और संघर्षों को प्रतिबिंबित करने के साथ-साथ चेतना जगाने और परिवर्तन की आकांक्षा को स्वर प्रदान करती है। निस्संदेह, आज की ग़ज़ल साहित्य और समाज के बीच जीवंत संवाद की सेतु है।

बीज शब्द: समकालीन हिन्दी ग़ज़ल, भूख, बेरोजगारी, पूँजीवाद, बाज़ार, महँगाई, वैश्वीकरण, स्त्री, जातिवाद, समाज, असमानता।

भूमिका

हिंदी ग़ज़ल का साहित्यिक परिदृश्य समय के साथ निरंतर परिवर्तनशील रहा है। वैसे तो ग़ज़ल का फलक प्रेम-केंद्रित होते हुए भी अत्यधिक विस्तृत रहा है, परंतु समकालीन हिंदी ग़ज़ल ने इसका और अधिक विस्तार किया है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समकालीन हिंदी ग़ज़ल अत्यधिक मुखर हुई है। सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, शमशेर बहादुर सिंह जैसे ग़ज़लकारों ने हिंदी ग़ज़ल को सँवारा तो दुष्यंत कुमार इसे आम जन के समीप ले आये। आज हिंदी ग़ज़ल आमजन का कंठहार बनी हुई है। ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि समकालीन ग़ज़लकारों ने समय की नब्ज़ को पहचाना और ग़ज़ल को नया धरातल प्रदान किया। समाज से कटा हुआ साहित्य न तो लोकप्रिय हो सकता है और न ही स्थायी। समकालीन हिंदी ग़ज़लकारों ने ग़ज़ल और समाज के संबंध को प्रबल बनाया। हरेराम समीप के शब्दों में, "हिंदी ग़ज़ल की भाव-भूमि को हिंदी के कई समकालीन ग़ज़लकारों ने पूरी शिद्दत के साथ विस्तार दिया, जिनकी ग़ज़लों में समकालीन परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण है, एक सुगबुगाहट और बेचैनी भी है। इस तरह आम आदमी की ज़िंदगी ही हिंदी ग़ज़ल का केंद्र बिंदु बन गया है।"[1]

अब ग़ज़ल में केवल प्रेम, सौन्दर्य, ज़ुल्फ, नैन, तीर, हुस्न, शराब, साकी, मयखाने की ही बात नहीं होती है, बल्कि ग़रीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, महँगाई, भ्रष्टाचार, न्याय-अन्याय और आम आदमी के दैनिक जीवन की समस्याओं पर भी ग़ज़ल खुलकर बात करती है। आज ग़ज़ल समाज का मुख बनकर समाज के हालात ही बयाँ नहीं करती अपितु हथियार बनकर समाज की लड़ाई भी लड़ती है। वशिष्ठ अनूप लिखते हैं कि "समकालीन हिंदी ग़ज़ल में यथार्थ के कई

वर्ष- 1, अंक- 3 (जुलाई–सितंबर 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

रूप हैं । इसका एक रूप तो मजदूर, किसान और जन सामान्य से संबंधित है जिसका जीवन दुखों का पर्याय बना हुआ है। भूख, गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी, उपेक्षा, अपमान और अनेक प्रकार की विवशताएँ जिसके जीवन का शाश्वत सत्य बन गयी हैं।”[2]

शोध-विस्तार

देश में अंग्रेजी सत्ता स्थापित होने के बाद यहां के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में मूलभूत परिवर्तन हुए। सामंतवाद का स्थान धीरे-धीरे पूंजीवाद लेता गया। जिसके कारण औद्योगीकरण और नगरीकरण ने गति पकड़ी। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने यहां के परिवार, समाज और आर्थिक ढांचे पर भी अपना प्रभाव डाला, इनके स्वरूप बदलने लगे। अंग्रेजों से स्वतंत्र होने के बाद भी हम पूंजीवाद से स्वतंत्र नहीं हो पाये। लोकतंत्र स्थापित होने के बाद पूंजीवाद ने अपनी जड़ें और भी मजबूत की। धन कुछ हाथों में सिमटता गया और अधिकांश जनता गरीब होती गयी। लोकतंत्र स्थापित होने के बाद लोगों में यह उम्मीद जगी कि गरीबी और भुखमरी जैसी समस्याओं से छुटकारा मिल जाएगा। शोषण से मुक्ति मिलेगी। परंतु पूंजीवाद का चरित्र भी शोषक का ही चरित्र है। धन-लोलुपता मनुष्य को किसी भी हद तक नीचे गिरा सकती है। इसके लिए लोग चोरी, हत्या, भ्रष्टाचार, बेईमानी तथा घिनौने से घिनौने अपराध करने के लिए भी तत्पर रहते हैं। देश की अनेक समस्याओं की जड़ पूंजीवाद में ही निहित है। ऐसा नहीं है कि स्वतंत्रता के बाद देश ने तरक्की नहीं की, बहुत तरक्की हुई है। परंतु अमीरी-गरीबी की खाई बढ़ती ही गई है। यहां पर कुछ अमीर ऐसे हैं जो देश भी खरीदने की क्षमता रखते हैं और कुछ गरीब ऐसे हैं जो अपने लिए दो वक्त की रोटी भी नहीं जुटा सकते। यहां अमीरी-गरीबी में होड़ लगी हुई है, अदम गोण्डवी के अनुसार-

लगी है होड़-सी देखो अमीरी और ग़रीबी में

ये पूंजीवाद के ढांचे की बुनियादी खराबी है[3]

ग़रीबी और भूख का सम्बन्ध बहुत गहरा है। इसीलिए ग़रीबी के साथ-साथ भूख का प्रश्न भी सदियों से मनुष्य को परेशान करता रहा है। आदिम मनुष्य जंगल में फलों या शिकार के माध्यम से अपना पेट भरा करता था। सभ्यता के विकास के साथ-साथ पेट भरने के तरीके भी बदलते गये। मानव कृषि पर निर्भर होता गया। सम्मान की रोटी खाना सबका उद्देश्य बन गया। लोभी प्रकृति के लोगों ने धन संचित करना शुरू किया। जो कामचोर और कुटिल बुद्धि के लोग थे, वे अकूत संपत्तियों के स्वामी हो गये और जो लोग मेहनती और ईमानदार रहे उनके लिए पेट भरना भी मुश्किल हो गया। प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा होने की वजह से इसी प्रकृति से उत्पन्न बहुत सारे मनुष्य अपना पालन-पोषण करने में भी असमर्थ हैं, प्रकृति से उन्हें उनका भाग भी नहीं मिल पा रहा है। जितेन्द्र कुमार ‘नूर’ प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा करने वालों से कहते हैं-

हवा-पानी पे है पहरा तुम्हारा

यहाँ हर चीज़ पर कब्ज़ा तुम्हारा[4]

पेट की आग बहुत भयंकर होती है। इस आग को बुझाने के लिए मनुष्य को कैसे-कैसे यत्न करने पड़ते हैं। जब भूख लगती है तो मनुष्य को धूप, गर्मी, वर्षा, पाला कुछ नहीं दिखायी देता है। भूखा व्यक्ति चिलचिलाती धूप में भी घर से बाहर निकलने के लिए मजबूर हो जाता है। सुदेश कुमार मेहर ने इसे अपने एक शेर में इस प्रकार व्यक्त किया है –

कुलबुलाती भूख वाले ज़र्द चेहरों के सिवा

चिलचिलाती धूप में घर से निकलता कौन है[5]

वर्ष- 1, अंक- 3 (जुलाई–सितंबर 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

इसी बात को अनामिका सिंह ने इन शब्दों में बयाँ किया है –

खोजता रोटियां वो जो कूड़े में है
देखता कब भला छाँव या घाम को[6]

समाज की यह विडंबना है कि जब कोई इंसान भूख से मर रहा होता है, तब समाज चुप रहता है, उसकी मदद के लिए हाथ नहीं बढ़ाता। आज का समाज अक्सर संवेदनशीलता का दिखावा करता है। जब कोई व्यक्ति भूख, गरीबी या अन्य समस्याओं से जूझ रहा होता है, तब उसकी मदद करने के बजाय लोग मुँह मोड़ लेते हैं। लेकिन जैसे ही वह व्यक्ति मर जाता है, उसकी याद में भव्य आयोजन किए जाते हैं-लंगर बाँटे जाते हैं, श्रद्धांजलि सभाएँ की जाती हैं और बड़े-बड़े भाषण दिये जाते हैं। यह प्रवृत्ति हमारे समाज की सबसे बड़ी विडंबना है। असली इंसानियत जीवित इंसान की मदद करने में है, ताकि वह सम्मानजनक जीवन जी सके। परंतु हमने मृतक को पूजने की परंपरा को जीवित व्यक्ति की सहायता करने से ज़्यादा अहमियत दी है। यही कटु सत्य आसी यूसुफ़पुरी अपने शेर में व्यंग्यात्मक ढंग से सामने लाते हैं-

सुना है भूख से निकला है दम उस आदमी का
जिसकी याद में लंगर चलाया जा रहा है[7]

अत्यंत तीव्र गति से बढ़ती हुई देश की जनसंख्या ने देश में अनेक प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। बेरोजगारी इनमें से एक है। आज के समय में बेरोज़गारी भारत की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक है। हर साल लाखों विद्यार्थी स्नातक-परास्नातक एवं व्यावसायिक डिग्रियाँ लेकर निकलते हैं, लेकिन उन्हें उपयुक्त नौकरी नहीं मिल पाती। सरकारी नौकरियों की संख्या सीमित है और निजी क्षेत्र भी उतने अवसर नहीं दे पा रहे। मनरेगा, स्टार्टअप इंडिया, कौशल विकास योजना जैसी अनेक योजनाएँ बनीं, परंतु उनका प्रभाव सीमित ही रहा। सरकारें बदलती रहीं, नीतियाँ बनीं, रोजगार मेलों और प्रशिक्षण कार्यक्रमों का आयोजन हुआ, लेकिन बेरोज़गारी का स्तर कम होने के बजाय लगातार बढ़ता गया। परिणामस्वरूप युवा वर्ग हताशा, असंतोष और पलायन की स्थिति से गुज़र रहा है। के० पी० अनमोल बेरोज़गारी की अनियंत्रित वृद्धि और व्यवस्था की असफलता को बेहद प्रभावशाली ढंग से प्रकट करते हैं-

इतने यत्नों बाद अब तक ये नहीं हारी मुई
बढ़ रही है घास की मानिंद बेकारी मुई[8]

इस बढ़ती हुई ग़रीबी और बेरोजगारी में बाज़ारवाद अपने पाँव फैलाता जा रहा है। बाज़ार ने इंसान को उसकी मूलभूत आवश्यकताओं के लिए भी पूरी तरह पैसे पर निर्भर बना दिया है। यह पूँजीवादी व्यवस्था की अमानवीय प्रवृत्ति का प्रतीक है, जहाँ लाभ और उपभोग ही सर्वोपरि हो गये हैं। समकालीन समय में पानी जैसी वस्तु भी केवल प्राकृतिक संपदा नहीं, बल्कि व्यापारिक वस्तु में बदल चुकी है। महानगरों में बोतलबंद पानी, ग्रामीण क्षेत्रों में टैंकर से पानी बिक रहा है और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर जल-संसाधनों पर नियंत्रण की राजनीति हो रही है। जलवायु परिवर्तन, बढ़ती आबादी और औद्योगिकीकरण ने जल-संकट को और विकराल बना दिया है। आज पृथ्वी के अनेक हिस्सों में 'वॉटर वॉर' जैसी स्थितियाँ पैदा हो रही हैं। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्टों में भी पानी को 21वीं सदी का सबसे बड़ा संकट माना गया है। भारत जैसे देश में जहाँ नदियों को 'माँ' का दर्जा दिया जाता है, वहीं नदियाँ प्रदूषण और दोहन का शिकार होकर अपनी जीवनदायिनी भूमिका खोती जा रही हैं। जिस वस्तु को प्रकृति ने सबके लिए समान रूप से उपलब्ध कराया, वह आज पूँजीवादी व्यवस्था और बाज़ार की लालसाओं में कैद हो गई है। समकालीन समाज में स्वास्थ्य, शिक्षा और भोजन की

वर्ष- 1, अंक- 3 (जुलाई–सितंबर 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

तरह पानी भी अब उपभोक्ता के खरीदने की क्षमता पर निर्भर है। यह स्थिति लोकतांत्रिक और मानवीय मूल्यों के लिए गंभीर चुनौती है। इन्दु श्रीवास्तव का यह शेर केवल एक काव्य-पंक्ति नहीं, बल्कि समकालीन समय का आईना है, जो हमें चेतावनी देता है कि यदि जल-संसाधनों की रक्षा नहीं हुई तो आने वाली पीढ़ियाँ जीवन के सबसे आवश्यक तत्त्व से भी वंचित हो जाएँगी। साथ ही महँगाई और बाज़ारवाद का असली चेहरा हमारे सामने प्रस्तुत करता है-

बाज़ार का ऐसा कोई कोना तलाशिए

पानी का एक घूंट तो महंगा न हो जहाँ[9]

समकालीन समाज में वैश्वीकरण ने एक ओर आर्थिक अवसरों के नए द्वार खोले हैं, तो दूसरी ओर पारिवारिक और सामाजिक संबंधों के टूटने की प्रक्रिया को भी तीव्र किया है। विशेष रूप से विकासशील देशों से पढ़ाई या रोज़गार के लिए विकसित देशों की ओर पलायन एक सामान्य प्रवृत्ति बन चुकी है। वैश्वीकरण के युग में यह समस्या और गहरी हो गयी है। समकालीन साहित्य में यह विषय गहन विमर्श का केंद्र रहा है कि आर्थिक विकास और भौतिक सफलता की चमक के बीच सांस्कृतिक रीतियाँ, पारिवारिक मूल्य और मानवीय कर्तव्य किस हद तक सुरक्षित रह पाते हैं। इसे विवशता कहें या धनलोलुपता, जिसके कारण व्यक्ति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन भी नहीं कर पा रहा है। इस पीड़ा को ओमप्रकाश यती ने इस शेर के माध्यम से बख़ूबी उजागर किया है-

वहां परदेश में जब खेलते हैं डॉलरों में सब

यहां मां-बाप की मिट्टी उठाने कौन आएगा[10]

आज का दौर उपभोक्तावाद और आर्थिक असमानताओं से इतनी गहराई तक प्रभावित है कि महँगी चिकित्सा सेवाओं और बाज़ार के दबाव ने बीमारी को दवा और इलाज से ज़्यादा खर्च का विषय बना दिया है। अस्पताल, दवाइयाँ और जाँचें इतनी महँगी हो चुकी हैं कि परिजनों के बीच देखभाल का भावनात्मक प्रश्न पीछे छूटकर केवल आर्थिक भागीदारी का प्रश्न रह जाता है। आधुनिक समाज में रिश्तों का मूल्यांकन भावनात्मक आधार पर नहीं, बल्कि आर्थिक योगदान के आधार पर किया जाने लगा है। संवेदनाएँ और अपनापन जहाँ पीछे छूट रहे हैं, वहीं प्रतिस्पर्धा और आर्थिक हिसाब-किताब रिश्तों को तोड़ने का कारण बन रहे हैं। यदि रिश्ते केवल खर्च और योगदान के आधार पर परिभाषित होते रहेंगे तो पारिवारिक संस्था की सामूहिकता, सामाजिक विश्वास और पारंपरिक सहानुभूति की जड़ें लगातार कमजोर होती जाएँगी। हरेराम समीप का यह शेर हमें सोचने पर विवश करता है-

तेरहवीं के दिन बेटों के बीच बहस बस इतनी थी

किसने कितने खर्च किये थे अम्मा की बीमारी में[11]

समकालीन भारतीय समाज में जातिगत पहचान अब भी एक गहरी वास्तविकता के रूप में उपस्थित है। आधुनिकता, औद्योगीकरण और शिक्षा के विस्तार के बावजूद सामाजिक व्यवहार में जाति की दीवारें टूटने के बजाय और सुदृढ़ होती दिखाई देती हैं। आज यह प्रवृत्ति केवल निजी स्तर तक सीमित नहीं रही, बल्कि सार्वजनिक जीवन में उसका प्रदर्शन एक गर्वपूर्ण आचरण के रूप में सामने आ रहा है। स्थिति अत्यंत चिंताजनक है। भारतीय संस्कृति का मूल स्वर विविधता में एकता पर आधारित रहा है। किंतु वर्तमान परिदृश्य में पारिवारिक और सामाजिक आयोजनों से लेकर धार्मिक अनुष्ठानों तक में जातीय श्रेष्ठता का दावा और उसका सार्वजनिक प्रदर्शन आम हो चला है। इससे न केवल सामाजिक सामंजस्य प्रभावित होता है, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन भी होता है। लोकतंत्र की अपेक्षा होती है कि सभी नागरिक समान अधिकारों और अवसरों के साथ सहभागिता करें। किंतु व्यवहार में जातिगत समीकरण ही

वर्ष- 1, अंक- 3 (जुलाई–सितंबर 2026)
ISSN: 3139-5317 (Online), 3139-5325 (Print)

चुनावी राजनीति की आधारशिला बन चुके हैं। राजनीतिक दल इन पहचानों का पोषण करते हैं और उन्हें अपने वोट बैंक के रूप में संगठित करते हैं। फलस्वरूप, लोकतंत्र की मूलभूत भावना–नागरिक की समानता और सामाजिक न्याय–कमज़ोर पड़ने लगती है। समकालीन हिंदी ग़ज़ल ने जाति के प्रश्न पर भी दृष्टिपात किया है। डॉ० अमर पंकज का यह शेर देखिए-

जाति की दीवार ऊँची कर रहे सब शान से
लग रहा है जाति का मेला हमारे देश में[12]

समकालीन भारतीय समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता और जीवन-शैली से जुड़े प्रश्न सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बन चुके हैं। लोकतांत्रिक व्यवस्था की अपेक्षा होती है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी रुचि, पसंद और परंपरा के अनुसार भोजन, वस्त्र और जीवन-शैली चुनने का अधिकार प्राप्त हो। किंतु वर्तमान परिदृश्य यह संकेत करता है कि नागरिक जीवन के इन अत्यंत निजी निर्णयों को भी समाज और राजनीति के स्तर पर नियंत्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। लोकतंत्र का आधार व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता है। यदि किसी व्यक्ति या समुदाय को अपनी संस्कृति, खान-पान या पहनावे को लेकर दबाव झेलना पड़े, तो यह लोकतांत्रिक मूल्यों की अवमानना है। ऐसे मामलों में राज्य और समाज को नागरिक की स्वतंत्रता की रक्षा करनी चाहिए, न कि उस पर प्रतिबंध या समीक्षा की मानसिकता थोपनी चाहिए। डॉ० मुश्ताक़ अहमद 'अक्स' ने इस मानसिकता पर करारा व्यंग्य किया है-

कौन क्या खाएगा पहनेगा यहाँ अपने ही घर
देश में इसकी समीक्षा चल रही है आजकल[13]

भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति लंबे समय से पितृसत्तात्मक संरचनाओं से प्रभावित रही है। आधुनिकता और शिक्षा के विस्तार के बावजूद स्त्रियों को स्वतंत्र और समान अस्तित्व के रूप में स्वीकारने में समाज अभी भी संकोच करता है। यही कारण है कि पारिवारिक जीवन से लेकर सार्वजनिक क्षेत्र तक स्त्री को अक्सर वस्तु की तरह देखा और प्रस्तुत किया जाता है। यह प्रवृत्ति इस तथ्य को उजागर करती है कि स्त्री को आज भी उसके श्रम और योगदान के बजाय उसकी बाहरी छवि और उपयोगिता के आधार पर आँका जाता है। घरेलू परिश्रम और देखभाल का काम अदृश्य बना रहता है, जबकि बाज़ार और मीडिया उसकी देह और सौंदर्य का मूल्य तय करते हैं। इस प्रकार स्त्री का वस्तुकरण सामाजिक असमानता का स्थायी रूप बन चुका है। यह पीड़ा कविता विकास के इस शेर में इस प्रकार उभर कर आयी है-

क़ीमत लगा के उनको बिकाऊ बना दिया
सामान-सी दुकान में रहती हैं औरतें[14]

निष्कर्ष-

समकालीन हिंदी ग़ज़ल ने अपने पारंपरिक स्वरूप से आगे बढ़ते हुए नए सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों को आत्मसात किया है। ग़ज़ल अब केवल सौंदर्याभिव्यक्ति या व्यक्तिगत भावनाओं की विधा न रहकर जनजीवन की वास्तविकताओं और समकालीन समस्याओं की मुखर अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन चुकी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग़ज़लकारों ने अपने रचनाकर्म के माध्यम से ग़रीबी, महँगाई, बेरोज़गारी, प्रवासन, उपभोक्तावाद, भ्रष्टाचार, जातिवाद, लैंगिक असमानता और स्त्री-वस्तुकरण जैसे ज्वलंत प्रश्नों को स्वर दिया है। इससे ग़ज़ल का सामाजिक महत्व बढ़ा है और यह विधा आमजन के अनुभवों से सीधा संवाद स्थापित करने में सक्षम हुई है। विशेष रूप से

लोकतांत्रिक दृष्टिकोण से देखें तो ग़ज़ल ने समानता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व जैसे मूल्यों को रेखांकित करने का कार्य किया है। इस प्रकार यह केवल साहित्यिक आनंद का स्रोत नहीं, बल्कि जनचेतना को जागृत करने वाला सामाजिक दस्तावेज़ भी बन गई है। ग़ज़लकारों की यह प्रतिबद्धता इसे प्रतिरोध की आवाज़ और परिवर्तन की आकांक्षा दोनों का वाहक बनाती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिंदी ग़ज़ल ने साहित्य और समाज के मध्य विद्यमान दूरी को समाप्त करते हुए वर्तमान समय की चुनौतियों को अभिव्यक्ति दी है। इसने ग़ज़ल को ज़मीन से जोड़कर उसे लोकजीवन की सच्चाइयों और संघर्षों का दर्पण बनाया है। अतः आज की ग़ज़ल केवल एक काव्य-विधा न रहकर लोकतांत्रिक चेतना, मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक संघर्षों की प्रामाणिक तथा प्रासंगिक अभिव्यक्ति सिद्ध होती है।

सन्दर्भ सूची

1. हरेराम समीप, हिन्दी ग़ज़ल कोश, एनीबुक, 2024, पृ० सं०- 23
2. वशिष्ठ अनूप, हिन्दी ग़ज़ल का परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2024, पृ० सं०- 17
3. अदम गोण्डवी, समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2022, पृ० सं०- 59
4. जितेन्द्र कुमार 'नूर', ख़ामोशियों का दौर, संकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2024, पृ० सं०- 96
5. हरेराम समीप, हिन्दी ग़ज़ल कोश, एनीबुक, 2024, पृ० सं०- 523
6. रामनाथ 'बेख़बर', प्रतिरोध की ग़ज़लें, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नोएडा, 2025, पृ० सं०- 18
7. आसी यूसुफ़पुरी, नुक्ताचीनी, अंजुमन प्रकाशन, प्रयागराज, 2022, पृ० सं०- 78
8. रामनाथ 'बेख़बर', प्रतिरोध की ग़ज़लें, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नोएडा, 2025, पृ० सं०- 49
9. इन्दु श्रीवास्तव, https://rachnasamay.com/indu-srivastava-ki-ghaljley-our-dohe/
10. रामनाथ 'बेख़बर', प्रतिरोध की ग़ज़लें, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नोएडा, 2025, पृ० सं०- 45
11. हरेराम समीप, चयनित ग़ज़लें, न्यू वर्ल्ड पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ० सं०- 21
12. रामनाथ 'बेख़बर', प्रतिरोध की ग़ज़लें, श्वेतवर्णा प्रकाशन, नोएडा, 2025, पृ० सं०- 34
13. डॉ० मुश्ताक़ अहमद 'अक्स', सूर्य की अग्नि परीक्षा, संकल्प प्रकाशन, दिल्ली, 2023, पृ० सं०- 11
14. हरेराम समीप, हिन्दी ग़ज़ल कोश, एनीबुक, 2024, पृ० सं०- 458